श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

कपिल गीता अध्याय(3.27)

वर्णन करने सांख्य योग का, और देने को ज्ञान ।
गुरु रूप में कपिल मुनि थे, देवहूति शिष्य समान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।
देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्
तृतीयं स्कंधः
॥अथ सप्तविं(म्)शोऽध्यायः ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो, नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः ।
अविकारादकर्तृत्वान्- निर्गुणत्वाज्जलार्कवत् ॥ 1॥

श्रीभगवान् कहते हैं-माताजी जिस तरह जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यके साथ जलके शीतलता, चञ्चलता आदि गुणोंका सम्बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृतिके कार्य शरीरमें स्थित रहनेपर भी आत्मा वास्तवमें उसके सुख-दुःखादि धर्मोंसे लिप्त नहीं होता; क्योंकि वह स्वभावसे निर्विकार, अकर्ता और निर्गुण है।

स एष यर्हि प्रकृतेर्-गुणेष्वभिविषज्जते ।
अहङ्क्रियाविमूढात्मा, कर्तास्मीत्यभिमन्यते ॥ 2॥

किन्तु जब वही प्राकृत गुणोंसे अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, तब अहङ्कारसे मोहित होकर 'मैं कर्ता हूँ - ऐसा मानने लगता है।

तेन सं(म्)सारपदवी-मवशोऽभ्येत्यनिर्वृतः ।

प्रासङ्गिकैः(ख्) कर्मदोषैः(स्), सदसन्मिश्रयोनिषु ॥ 3॥

उस अभिमानके कारण वह है देहके संसर्गसे किये हुए पुण्य-पापरूप कर्मोंके दोषसे अपनी स्वाधीनता और शान्ति खो बैठता है तथा उत्तम, मध्यम और नीच योनियोंमें उत्पन्न होकर संसारचक्रमें घूमता रहता है।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि, सं(म्)सृतिर्न निवर्तते ।

ध्यायतो विषयानस्य, स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥ 4॥

जिस प्रकार स्वप्नमें भय-शोकादिका कोई कारण न होनेपर भी स्वप्नके पदार्थों में आस्था हो जानेके कारण दुःख उठाना पड़ता है, उसी प्रकार भय-शोक, अहं-मम एवं जन्म-मरणादिरूप संसारकी कोई सत्ता न होने पर भी अविद्यावश विषयोंका चिन्तन करते रहने से जीवका संसार-चक्र कभी निवृत्त नहीं होता।

अत एव शनैश्चित्तं(म्), प्रसक्तमसतां(म्) पथि ।

भक्तियोगेन तीव्रेण, विरक्त्या च नयेद्वशम् ॥ 5॥

इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि असन्मार्ग (विषय चिन्तन) में फँसे हुए चित्तको तीव्र भक्तियोग और वैराग्यके द्वारा धीरे-धीरे अपने वशमें लावे।

यमादिभिर्योगपथै-रभ्यसन् श्रद्धयान्वितः ।

मयि भावेन सत्येन, मत्कथाश्रवणेन च ॥ 6॥

सर्वभूतसमत्वेन, निर्वैरेणाप्रसङ्गतः ।

ब्रह्मचर्येण मौनेन, स्वधर्मेण बलीयसा ॥ 7॥

यदृच्छयोपलब्धेन, सन्तुष्टो मितभुङ्मुनिः ।

विविक्तशरणः(श्) शान्तो, मैत्रः(ख्) करुण आत्मवान् ॥ 8॥

सानुबन्धे च देहेऽस्मिन्- नकुर्वन्नसदाग्रहम् ।

ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन, प्रकृतेः(फ्) पुरुषस्य च ॥ 9॥

निवृत्तबुद्ध्यवस्थानो, दूरीभूतान्यदर्शनः ।

उपलभ्यात्मनाऽऽत्मानं(ञ्), चक्षुषेवार्कमात्मदृक् ॥ 10॥

मुक्तलिङ्गं(म्) सदाभास-मसतिं प्रतिपद्यते ।

सतो बन्धुमसच्चक्षुः(स्), सर्वानुस्यूतमद्वयम् ॥ 11॥

यमादि योगसाधनों के द्वारा श्रद्धापूर्वक अभ्यास-चित्तको बारंबार एकाग्र करते हुए मुझमें सच्चा भाव रखने, मेरी कथा श्रवण करने, समस्त प्राणियोंमें समभाव रखने, किसी से वैर न करने, आसक्तिके त्याग, ब्रह्मचर्य, मौन व्रत और बलिष्ठ (अर्थात् भगवानको समर्पित किये हुए) स्वधर्मसे जिसे ऐसी स्थिति प्राप्त हो गयी है कि-प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जाता है उसीमें सन्तुष्ट रहता है, परिमित भोजन करता है, सदा एकान्तमें रहता है, शान्तस्वभाव है, सबका मित्र है, दयालु और धैर्यवान है, प्रकृति और पुरुष के वास्तविक स्वरूप के अनुभव से प्राप्त हुए तत्त्वज्ञान के कारण स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धियोंके सहित इस देह मैं मेरेपनका मिथ्या अभिनिवेश नहीं करता, बुद्धिकी जाग्रदादि अवस्थाओंसे भी अलग हो गया है तथा परमात्माके सिवा और कोई वस्तु नहीं देखता- वह आत्मदर्शी मुनि नेत्रोंसे सूर्यको देखनेकी भाँति अपने शुद्ध अन्तःकरणद्वारा परमात्माका साक्षात्कार कर उस अद्वितीय ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाता है, जो देहादि सम्पूर्ण उपाधियोंसे पृथक्, अहङ्कारादि मिथ्या वस्तुओंमें सत्यरूपसे भासनेवाला, जगत्कारणभूता प्रकृतिका अधिष्ठान, महदादि कार्यवर्गका प्रकाशक और कार्य-कारणरूप सम्पूर्ण पदार्थो में व्याप्त है।

यथा जलस्थ आभासः(स्), स्थलस्थेनावदृश्यते ।

स्वाभासेन तथा सूर्यो, जलस्थेन दिवि स्थितः ॥ 12॥

एवं(न्) त्रिवृदहङ्कारो, भूतेन्द्रियमनोमयैः ।

स्वाभासैर्लक्षितोऽनेन, सदाभासेन सत्यदृक् ॥ 13॥

भूतसूक्ष्मेन्द्रियमनो-बुद्ध्यादिष्विह निद्रया ।

लीनेष्वसति यस्तत्र, विनिद्रो निरहङ्क्रियः ॥ 14॥

जिस प्रकार जलमें पड़ा हुआ सूर्यका प्रतिबिम्ब दीवालपर पड़े हुए अपने आभासके सम्बन्धसे देखा जाता है और जलमें दीखनेवाले प्रतिबिम्बसे आकाशस्थित सूर्यका ज्ञान होता है, उसी प्रकार वैकारिक आदि भेदसे तीन प्रकारका अहङ्कार देह, इन्द्रिय और मनमें स्थित अपने प्रतिबिम्बोंसे लक्षित होता है और फिर सत् परमात्मा के प्रतिविम्बयुक्त उस अहङ्कारके द्वारा सत्य ज्ञानस्वरूप परमात्माका दर्शन होता है— जो सुषुप्तिके समय निद्रासे शब्दादि भूतसूक्ष्म इन्द्रिय और मनबुद्धि आदिके अव्याकृतमें लीन हो जानेपर स्वयं जागता रहता है और सर्वथा अहङ्कारशून्य है।

मन्यमानस्तदाऽऽत्मान-मनष्टो नष्टवन्मृषा ।

नष्टेऽहङ्करणे द्रष्टा, नष्टवित्त इवातुरः ॥ 15॥

(जाग्रत अवस्थामें यह आत्मा भूतसूक्ष्मादि दृश्यवर्गके द्रष्टारूपमें स्पष्टतया अनुभव मे आता है; किन्तु) सुषुप्ति के समय अपने उपाधिभूत अहङ्कारका नाश होनेसे वह भ्रमवश अपनेको ही नष्ट हुआ मान लेता है और जिस प्रकार धनका नाश हो जानेपर मनुष्य अपनेको भी नष्ट हुआ मानकर अत्यन्त व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार वह भी अत्यन्त विवश होकर नष्टवत् हो जाता है।

एवं(म्) प्रत्यवमृश्यासा- वात्मानं(म्) प्रतिपद्यते ।

साहङ्कारस्य द्रव्यस्य, योऽवस्थानमनुग्रहः ॥ 16॥

माताजी ! इन सब बातोंका मनन करके विवेकी पुरुष अपने आत्माका अनुभव कर लेता है, जो अहङ्कारके सहित सम्पूर्ण तत्त्वोंका अधिष्ठान और प्रकाशक है।

देवहूतिरुवाच

पुरुषं(म्) प्रकृतिर्ब्रह्मन्, न विमुञ्चति कर्हिचित् ।

अन्योन्यापाश्रयत्वाच्च, नित्यत्वादनयोः(फ्) प्रभो ॥ 17॥

देवहूतिने पूछा-प्रभो। पुरुष और प्रकृति दोनों ही नित्य और एक-दूसरेके आश्रयसे रहनेवाले हैं, इसलिये प्रकृति तो पुरुषको कभी छोड़ ही नहीं सकती।

यथा गन्धस्य भूमेश्च, न भावो व्यतिरेकतः ।

अपां(म्) रसस्य च यथा, तथा बुद्धेः(फ्) परस्य च ॥ 18॥

ब्रह्मन् ! जिस प्रकार गन्ध और पृथ्वी तथा रस और जलकी पृथक्-पृथक्स्थिति नहीं हो सकती, उसी प्रकार पुरुष और प्रकृति भी एक-दूसरेको छोड़कर नहीं रह सकते।

अकर्तुः(ख्) कर्मबन्धोऽयं(म्), पुरुषस्य यदाश्रयः ।

गुणेषु सत्सु प्रकृतेः(ख्), कैवल्यं(न्) तेष्वतः(ख्) कथम् ॥ 19॥

अतः जिनके आश्रयसे अकर्ता पुरुषको यह कर्मबन्धन प्राप्त हुआ है, उन प्रकृतिके गुणोंके रहते हुए उसे कैवल्यपद कैसे प्राप्त होगा ?

क्वचित्तत्त्वावमर्शेन, निवृत्तं(म्) भयमुल्बणम् ।

अनिवृत्तनिमित्तत्वात्-पुनः(फ्) प्रत्यवतिष्ठते ॥ 20॥

यदि तत्त्वोंका विचार करनेसे कभी यह संसारबन्धनका तीव्र भय निवृत्त हो भी जाय, तो भी उसके निमित्तभूत प्राकृत गुणोंका अभाव न होनेसे वह भय फिर उपस्थित हो सकता है।

श्रीभगवानुवाच

अनिमित्तनिमित्तेन, स्वधर्मेणामलात्मना ।

तीव्रया मयि भक्त्या च, श्रुतसम्भृतया चिरम् ॥ 21॥

ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन, वैराग्येण बलीयसा ।

तपोयुक्तेन योगेन, तीव्रेणात्मसमाधिना ॥ 22॥

प्रकृतिः(फ्) पुरुषस्येह, दह्यमाना त्वहर्निशम् ।

तिरोभवित्री शनकै-रग्नेर्योनिरिवारणिः ॥ 23॥

श्रीभगवान् ने कहा- माताजी। जिस प्रकार अग्निका उत्पत्तिस्थान अरणि अपनेसे ही उत्पन्न अग्निसे जलकर भस्म हो जाती है, उसी प्रकार निष्कामभावसे किये हुए स्वधर्मपालनद्वारा अन्तःकरण शुद्ध होनेसे बहुत समयतक भगवत्कथा-श्रवणद्वारा पुष्ट हुई मेरी तीव्र भक्तिसे, तत्त्वसाक्षात्कार करानेवाले ज्ञानसे, प्रबल वैराग्यसे, व्रतनियमादिके सहित किये हुए ध्यानाभ्याससे और चित्तकी प्रगाढ़ एकाग्रतासे पुरुषकी प्रकृति (अविद्या) दिन-रात क्षीण होती हुई धीरे-धीरे लीन हो जाती है ।

भुक्तभोगा परित्यक्ता, दृष्टदोषा च नित्यशः ।

नेश्वरस्याशुभं(न्) धत्ते, स्वे महिम्नि स्थितस्य च ॥ 24॥

फिर नित्यप्रति दोष दीखनेसे भोगकर त्यागी हुई वह प्रकृति अपने स्वरूप में स्थित और स्वतन्त्र (बन्धनमुक्त) हुए उस पुरुषका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती।

यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य, प्रस्वापो बह्वनर्थभृत् ।

स एवं प्रतिबुद्धस्य, न वै मोहाय कल्पते ॥ 25॥

जैसे सोये हुए पुरुषको स्वप्नमें कितने ही अनर्थोंका अनुभव करना पड़ता है, किन्तु जग पड़नेपर उसे उन स्वप्नके अनुभवोंसे किसी प्रकारका मोह नहीं होता।

एवं(वँ) विदिततत्त्वस्य, प्रकृतिर्मयि मानसम् ।

युञ्जतो नापकुरुत, आत्मारामस्य कर्हिचित् ॥ 26॥

उसी प्रकार जिसे तत्त्वज्ञान हो गया है और जो निरन्तर मुझमें ही मन लगाये रहता है, उस आत्माराम मुनिका प्रकृति कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती।

यदैवमध्यात्मरतः(ख्), कालेन बहुजन्मना ।

सर्वत्र जातवैराग्य, आब्रह्मभुवनान्मुनिः ॥ 27॥

जब मनुष्य अनेकों जन्मोंमें बहुत समयतक इस प्रकार आत्मचिन्तनमें ही निमग्न रहता है, तब उसे ब्रह्मलोक-पर्यन्त सभी प्रकारके भोगोंसे वैराग्य हो जाता है।

मद्भक्तः(फ्) प्रतिबुद्धार्थो, मत्प्रसादेन भूयसा ।

निः(श्)श्रेयसं(म्) स्वसं(म्)स्थानं(ङ्), कैवल्याख्यं(म्) मदाश्रयम् ॥ 28॥

प्राप्नोतीहाञ्जसा धीरः(स्), स्वदृशा छिन्नसं(म्)शयः ।

यद्गत्वा न निवर्तेत, योगी लिङ्गाद्विनिर्गमे ॥ 29॥

मेरा वह धैर्यवान् भक्त मेरी ही महती कृपासे तत्त्वज्ञान प्राप्त करके आत्मानुभवके द्वारा सारे संशयोंसे मुक्त हो जाता है और फिर लिङ्गदेहका नाश होनेपर एकमात्र मेरे ही आश्रित अपने स्वरूपभूत कैवल्यसंज्ञक मङ्गलमय पदको सहजमें ही प्राप्त कर लेता है, जहाँ पहुँचनेपर योगी फिर लौटकर नहीं आता।

यदा न योगोपचितासु चेतो,

मायासु सिद्धस्य विषज्जतेऽङ्ग ।

अनन्यहेतुष्वथ मे गतिः(स्) स्याद्-

आत्यन्तिकी यत्र न मृत्युहासः ॥ 30॥

माताजी! यदि योगीका चित्त योगसाधनासे बढ़ी हुई मायामयी अणिमादि सिद्धियोंमें, जिनकी प्राप्तिका योगके सिवा दूसरा कोई साधन नहीं है, नहीं फँसता, तो उसे मेरा वह अविनाशी परमपद प्राप्त होता है-जहाँ मृत्युकी कुछ भी दाल नहीं गलती।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहं(म्)स्यां(म्) सं(म्)हितायां(न्)

तृतीयस्कन्धेकपिलेयोपाख्याने सप्तविं(म्)शोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः(श्)शान्तिः(श्)शान्तिः ॥